हिन्दू विधि
(पारिवारिक विधि)

Hindu Law (Family Law)

JSB LAW College
अनुभवी अध्यापकों द्वारा

Jaswant Singh Bhadauria Law Colege

Kosi Khurd, Bharatpur Road, Mathura

Mob. : 8979000125, 126

Scanned with CamScanner

Selected Study Material

JSB LAW College

Session 2019-20

Scanned with CamScanner

हिन्दू विधि (पारिवारिक विधि)
Hindu Law (Family Law)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. संयुक्त हिन्दू परिवार के अन्तर्गत 'कर्त्ता' को परिभाषित करें । उसके क्या अधिकार, कर्त्तव्य तथा दायित्व हैं ?

उत्तर - कर्त्ता (Manager) - अविभाजित कुटुम्ब की सम्पत्ति की व्यवस्था तथा देखभाल और कुटुम्ब का संचालन कुटुम्ब के जिस व्यक्ति द्वारा किया जाता है वह कर्त्ता कहलाता है । जीवित एवं सक्षम रहने की दशा में सामान्यतया पिता कर्त्ता होता है । अप्राप्तवय पुत्रों के होने की स्थिति में वह आवश्यक रूप से कर्त्ता होता है । पिता के न रहने, अथवा उसके सक्षम न होने की स्थिति में, अथवा उसके स्वयं इस कार्य को छोड़ देने पर कुटुम्ब का वयोवृद्ध पुरुष सदस्य, यदि वह अन्य प्रकार से सक्षम हो, कर्त्ता होता है । कुटुम्ब के वयोवृद्ध सदस्य के अक्षम होने अथवा इस कार्य के छोड़ देने की स्थिति में कुटुम्ब का कोई कनिष्ठ सदस्य भी कर्त्ता हो सकता है । अब पुत्री को भी पुत्र के समान ही सहदायिक बना दिया गया है अतएव पुरुष सदस्यों के न होने या उनकी असमर्थता की स्थिति में वह कर्त्ता बन सकती है । **राधा अम्मल बनाम कमिश्नर ऑफ आई०टी०आर०**[1] एवं **कमिश्नर ऑफ इनकम टैक्स, मध्यप्रदेश बनाम सेठ गोविन्द राम सुगर मिल्स**[2] के अनुसार विधवा सहदायिक न होने के कारण अविभक्त कुटुम्ब की कर्त्ता नहीं हो सकती है । कर्त्ता एक समय में केवल एक ही व्यक्ति हो सकता है । हिन्दू विधि के अनुसार दो कर्त्ताओं का अस्तित्व नहीं हो सकता । वस्तुतः एक अविभक्त कुटुम्ब के दो कर्त्ताओं के होने का विचार प्रत्यक्षतः कर्त्ता की धारणा के अनुरूप नहीं है ।[3]

कर्त्ता का स्थान - हिन्दू अविभाजित परिवार में कर्त्ता, जहाँ तक वह परिवार के सदस्यों के प्रतिनिधि के रूप में परिवार की सम्पत्ति अथवा व्यापार अथवा परिवार के हितों की देखभाल कर सकता है । कर्त्ता के सम्बन्ध परिवार के सदस्यों के साथ न तो साझेदार के जैसे हैं और ना ही किसी व्यापार में अभिकर्ता की तरह हैं बल्कि संयुक्त परिवार में प्रबन्धक जो कुछ भी करता है वह बिल्कुल निःशुल्क होता है यद्यपि उसके और परिवार के सदस्यों के बीच का सम्बन्ध न्यासधारी (Trustee) और हिताधिकारी (beneficiary) के सम्बन्ध में बहुत साम्य रखता है, किन्तु वह पूर्ण रूपेण उस सम्बन्ध की भाँति हीं है । कर्त्ता उन सब कर्त्तव्यों के अधीन नहीं होता

---

1. राधा अम्मल बनाम कमिश्नर ऑफ आई०टी०आर० मद्रास, आई०एल०आर०(1951) मद्रास 56
2. कमिश्नर ऑफ इनकम टैक्स, मध्यप्रदेश बनाम सेठ गोविन्द राम सुगर मिल्स ए०आई०आर० 1966 एस० सी० 24
3. यूनियन ऑफ इण्डिया बनाम श्री राम बोहरा ए०आई०आर०1956 एस०सी० 1531

ISBL LAW College

Scanned with CamScanner

जिनके अधीन एक न्यासधारी होता है । संयुक्त परिवार के धन के दुर्विनियोग (misappropriation) अथवा अपने स्वयं के लिये धन का कपटपूर्ण अथवा अनुचित संपरिवर्तन करने के प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में वह केवल उतने का हिसाब देने का उत्तरदायी है जितना कि उसे प्राप्त किया है वह सारे कानूनी कार्यों (legal matters) में परिवार के सदस्यों का प्रतिनिधित्व करता है । यदि परिवार के प्राप्तवय माने जाने वाले कुछ सदस्य किसी संव्यवहार में कर्त्ता के साथ युक्त रहते हैं तो भी सदस्यों का प्रतिनिधित्व करने की उसकी शक्ति प्रभावित नहीं होती ।[1]

कर्त्ता के अधिकार और शक्तियाँ (Rights and Powers of Manager)- संयुक्त हिन्दू परिवार के कर्त्ता को अग्रलिखित अधिकार और शक्तियाँ प्राप्त हैं-

1. कब्जे और प्रबन्ध का अधिकार,
2. आय पर अधिकार,
3. प्रतिनिधित्व करने का अधिकार,
4. ऋण लेने का अधिकार,
5. संविदा करने का अधिकार
6. समझौता करने का अधिकार
7. हस्तांतरण करने का अधिकार
8. उन्मोचन देने का अधिकार

1. कब्जे और प्रबन्ध का अधिकार (Right to have possession and management)– कर्त्ता को यह अधिकार प्राप्त है कि परिवार की किसी सम्पत्ति पर कब्जा करके उस पर नियन्त्रण रखे और उसकी दखभाल करे । संयुक्त हिन्दू परिवार के प्रत्येक सदस्य का परिवार के निवासगृह में आवास पाने का अधिकार होने के कारण कर्त्ता उसे वहाँ से तब तक बेदखल नहीं कर सकता जब तक कि उस सदस्य का आचरण अति अवांछित न हो ।

2. आय पर अधिकार (Right over Income)– कर्त्ता को परिवार के आय-व्यय पर नियन्त्रण होता है कोई व्यय होने पर उसे अपनी अभिरक्षा में रखने का अधिकारी है कर्त्ता की स्थिति अभिकर्ता या न्यासधारी की भाँति न होने के कारण वह उन दायित्वों के अधीन नहीं रहता जिनके अधीन वे रहते हैं । एक कर्ता को अपने परिवार के प्रति आय-व्यय करने का अधिकार असीमित है उसने परिवार के धन का व्यय सद्भावपूर्वक किया है तो वह उसके लिये किसी भी तरह दायित्व के अधीन नहीं है ।

3. प्रतिनिधित्व करने का अधिकार (Right to Represent)– संयुक्त परिवार से सम्बद्ध प्रत्येक बात में कर्त्ता परिवार का प्रतिनिधि होता है, वह संयुक्त परिवार की ओर से वाद प्रस्तुत कर सकता है, और संयुक्त परिवार के प्रतिनिधित्व के रूप में उसके विरुद्ध वाद प्रस्तुत

---

1. राधाकृष्णदास बनाम कालूराम, ए०आई०आर० 1967, सुप्रीम कोर्ट 574

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

किया जा सकता है । कर्त्ता के रूप में उसके विरुद्ध प्राप्त की गई कोई डिक्री समस्त परिवार पर आबद्धकर होती है, और उसका निष्पादन अन्य सदस्यों के हितों के विरुद्ध हो सकता है, यद्यपि बाद में वे पक्षकार नहीं बनाये गये थे । कर्त्ता परिवार के प्रयोजन के लिये संविदा कर सकता है, विधिमान्य रसीद दे सकता है, समझौता कर सकता है, और वादों को छोड़ सकता है ।

4. ऋण लेने का अधिकार (Right to borrow money)-- परिवार के मामलों का प्रबन्धक होने से कर्त्ता के रूप में परिवार के प्रयोजनों के लिये ऋण लेने का प्राधिकार रखता है वह परिवार की साख पर अथवा परिवार की सम्पत्ति को बन्धक रखकर ऋण ले सकता है। इस प्रकार उसके द्वारा लिया गया परिवार के प्राप्तवय और अप्राप्तवय दोनों श्रेणी के सदस्यों पर अविभक्त परिवार की सम्पत्ति में उनके हित की सीमा तक आबद्धकर होता है । किन्तु ऐसे ऋण के आबद्धकर होने के लिये यह आवश्यक है कि वह परिवार की किसी आवश्यकता अथवा लाभ के लिये हो । इसलिये ऋणदाता का यह कर्त्तव्य होता है इस बात की जाँच पड़ताल कर ले कि कर्त्ता अपनी अधिकार सीमा के भीतर ही ऋण ले रहा है । यदि ऋणदाता ने सद्भावपूर्वक इस बात की जाँच नहीं की है, और कर्त्ता द्वारा लिया गया ऋण परिवार के प्रयोजन के लिये नहीं है तो वह परिवार के सदस्यों पर आबद्धकर नहीं होगा । यदि कर्त्ता अपने नाम से बिना किसी शर्त प्रोनोट लिखकर ऋण लेता है तो वह परिवार के अन्य सदस्यों अथवा परिवार की सम्पत्ति में उनके हित पर आबद्धकर नहीं है और इसलिये ऋणदाता उस प्रोनोट के सम्बन्ध में अन्य सदस्यों के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नहीं कर सकता ।[1]

5. संविदा करने का अधिकार-- परिवार के कर्त्ता को यह अधिकार है कि वह किसी व्यापार में संविदा कर सकता है, सुलह कर सकता है और परिवार की तरफ से अपना दावा भी छोड़ सकता है ।

6. समझौता करने का अधिकार – संयुक्त परिवार का कर्ता तर्कसंगत समझौता करने का अधिकार रखता है यद्यपि कर्ता को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि परिवार की सम्पत्ति को बिना किसी प्रतिफल के दे दे ।

7. हस्तांतरण करने का अधिकार-- संयुक्त परिवार के लिये कर्त्ता को यह अधिकार प्राप्त है कि विधिक आवश्यकता पर सम्पत्ति को हस्तांतरण कर सकता है । इस सम्बन्ध में हनुमान प्रसाद पाण्डेय बनाम बबुई मुनराज कुँवरि[2] के वाद में प्रिवी कौंसिल द्वारा प्रतिष्ठित किया गया नियम लागू होता है । यदि हिन्दू नारी के सम्पत्ति के अधिकार अधिनियम, 1937 के अधीन किसी सहदायिक की विधवा अपने मृत पति के हित को उत्तराधिकार में प्राप्त करती है किन्तु

---

1. हरिमोहन बनाम सुरेन्द्र, 41 सी० एल० जे० 535
2. (1856) 6 एम०आई०ए०393

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

वह विभाजन द्वारा अपने हित निश्चित नहीं कराती और सम्पत्ति सहदायिकी सम्पत्ति के रूप में ही रहती है तो परिवार के कर्त्ता द्वारा विधिक आवश्यकता या सम्पदा के फायदे के लिये किया गया अन्य संक्रामण समस्त सहदायिकी सम्पत्ति जिसमें विधवा का हित भी सम्मिलित है पर आबद्धकर होगा । कर्त्ता द्वारा किया गया वह अन्य संक्रामण जो न तो परिवार के लिये के लिये होता है, न विधिक आवश्यकता के अन्तर्गत, परिवार के सदस्यों पर आबद्धकर नहीं होता है।

8. उन्मोचन देने का अधिकार-- परिवार द्वारा प्रदान किये गये ऋण को कर्त्ता उन्मोचित कर सकता है ।

कर्त्ता के कर्त्तव्य और दायित्व (Duties and liabilities of Manager)

कर्त्ता के विस्तृत अधिकारों एवं शक्तियों के साथ ही उसके कर्त्तव्य और दायित्व निम्नलिखित हैं–

(1) हिसाब देने का दायित्व (Liability to give accounts)-- संयुक्त परिवार के कर्त्ता का यह दायित्व होता है कि वह परिवार के सदस्यों को परिवार की सम्पत्ति, अथवा प्राप्त हुई धनराशि का हिसाब दे । किन्तु उसके विरुद्ध अविभक्त परिवार की सम्पत्ति का दुर्विनियोग करे, अथवा कपटपूर्ण और अनुचित रीति से उसे अपने उपयोग में लाने का प्रत्यक्ष प्रमाण न होने पर वह केवल उतने का ही हिसाब देने का उत्तरदायी है जितना उसने वास्तवः प्राप्त किया है न कि उसका जो कि वह अपनी चतुरता अथवा विचक्षणता से प्राप्त किये होता । उसके और परिवार के सदस्यों के बीच का सम्बन्ध न्यासधारी और हितधिकारी के बीच के सम्बन्ध की भाँति नहीं होता है । वह हिसाब-किताब रखने तक के लिये बाध्य नहीं है, जब तक कि परिवार की सम्पत्ति इस प्रकार की न हो कि हिसाब-किताब रखना आवश्यक हो, जैसे कोई व्यापार-कार्य ।

(2) सम्पत्ति की सुरक्षा का दायित्व (Liability to safeguard the property)-- कर्त्ता का दायित्व है कि वह परिवार की सम्पत्ति की सुरक्षा करे । इसके साथ ही बँटवारे के समय परिवार के सदस्यों पर अविभक्त परिवार की समस्त सम्पत्ति को प्रकट करना आवश्यक है । उसके ऐसा न करने पर वह सम्पत्ति द्वारा हुये समस्त उत्पादन को सदस्यों को देने को बाध्य है ।

(3) नया व्यापार न प्रारम्भ करने का कर्त्तव्य (Duty of not starting a new trade)-- संयुक्त परिवार का कर्त्ता कोई नया व्यापार प्रारम्भ करके परिवार के सदस्यों के हित पर उसे आबद्धकर नहीं बना सकता । नया व्यापार परिवार के सदस्यों की सहमति से ही प्रारम्भ करने पर वह परिवार की सम्पत्ति में उनके हित पर आबद्धकर होगा ।

(4) अन्य संक्रामण की शून्यकरणीयता (Voidability of alienation)-- यदि कर्त्ता संयुक्त परिवार की सम्पत्ति का अन्यसंक्रामण न तो परिवार के लाभ के लिये न किसी कानूनी आवश्यकता के वशीभूत होकर और न कुटुम्ब के सदस्यों की सहमति से, करता है तो ऐसा अन्य संक्रामण शून्यकरणीय होगा और परिवार के सदस्य इसे अकृत करा सकते हैं ।

(5) सम्पत्ति को लौटाने का दायित्व (Liability to return property)-- यदि कर्त्ता संयुक्त परिवार की सम्पत्ति का दुर्विनियोग करता है, अथवा कपटपूर्ण या अनुचित रीति से सम्पत्ति अपने

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

उपयोग मे लाता है, तो वह कुटुम्ब के अन्य सदस्यों को उनके भाग में आने वाली सम्पत्ति अथवा धन को लौटाने को बाध्य है ।

प्रश्न 2. विभाजन से आप क्या समझते हैं ? विभाजन किस प्रकार होता है, व्याख्या कीजिए ?

उत्तर - मिताक्षरा शाखा में सहदायिक में सहदायिकों का हित अविनिर्दिष्ट होता है । सम्पत्ति का बंटवारा होने के पूर्व कोई सहदायिक यह नहीं कह सकता कि अविभक्त सम्पत्ति में उसका अमुक भाग है ।[1] अविभक्त कुटुम्ब का हैसियत का विघटन हो जाने से भी अविभक्त कुटुम्ब की समाप्ति पर इसका असर नहीं पड़ता और बंटवारा होने तक वह अविभक्त सम्पत्ति बनी रहती है ।[2] सहदायिकों में प्रत्येक सदस्य को बंटवारा कराने का अधिकार होता है । बंटवारे के अन्तर्गत दो बातें आती हैं- पहले हैसियत का विभाजन होता है और तत्पश्चात् माप और सीमांकन द्वारा विभाजन होता है । अविभक्त कुटुम्ब के सदस्यों के बंटवारा के लिये सहमत होते ही अविभक्त हैसियत समाप्त हो जाती है और केवल माप और सीमांकन द्वारा बंटवारा बाकी रहता है । जैसे कि हैसियत का विभाजन होता है वैसे ही सहदायिक का अंश विधि के अनुसार नियत हो जाता है । बंटवारा अविभक्त परिवार सम्पत्ति में अंशों के विभाजन मात्र द्वारा ही प्रभावी हो जाता है और यह आवश्यक नहीं है कि सम्पत्ति का माप और सीमांकन द्वारा विभाजन होना चाहिये ? अविभक्त सम्पत्ति में सहदायिकों के अधिकारों को विनिर्दिष्ट कर देना ही बंटवारा कहा जाता है । दूसरे शब्दों में बंटवारा का तात्पर्य अविभक्त सम्पत्ति में सहदायिकों के भाग को अवधारित कर देने से है ।

विभाजन के विधिक अर्थ– हिन्दू विधि में सहदायिकों के विभाजन के विशिष्ट अर्थ हैं। बंटवारा भागतः अथवा सम्पूर्ण हो सकता है । जहाँ तक इसके भागतः होने का प्रश्न है, यह या तो सदस्यों के सम्बन्ध में भागतः हो सकता है, अथवा सम्पत्ति के सम्बन्ध में भागतः हो सकता है । सदस्यों के सम्बन्ध में भागत; बंटवारे से तात्पर्य एक या अधिक सदस्यों के परिवार से पृथक हो जाने और शेष के अविभक्त कुटुम्ब को स्थिति किये रहने से है । सम्पत्ति के सम्बन्ध में बंटवारे के भागतः होने से तात्पर्य अविभक्त सम्पत्ति के कुछ भाग में सदस्यों का अपना हित पृथक कर लेने और शेष की अविभक्त सम्पत्ति बनाये रखने से है । जहाँ एक बार बँटवारा हो गया है, वहाँ वह उपधारणा की जाती है कि बँटवारा सदस्यों तथा सम्पत्ति दोनों के सम्ब्ध में पूर्ण रूप से हुआ है ।

बँटवारे के लिये किसी वी वाद में सामान्यतः अविभक्त परिवार की समस्त सम्पत्ति को सम्मिलित किया जाना चाहिये । किन्तु इस नियम के अपवाद भी हैं । यदि कोई सम्पत्ति वाद

---

1. दानकर आयुक्त बनाम एन०एस०सेट्टी (1972) 1 उ०नि०प० 258
2. ए०आई०आर०1986 एस०सी०79

ISBLAW College

Scanned with CamScanner

प्रस्तुत किये जाने वाले न्यायालय की अधिकारिता के वाहर है, अथवा विदेश में है, तो वह बंटवारे में सम्मिलित नही की जा सकती है । उसी प्रकार यदि अविभक्त सम्पत्ति का कोई भाग ऐसा है जो बँटवारे के लिये तुरन्त उपलब्ध नहीं हो सकता है, जैसे वन्धिकत अथवा पट्टेदार के कब्जे से सम्पत्ति, तो वह बँटवारे में सम्मिलित नहीं की जा सकती । केवल एक अविभक्त सम्पत्ति के बंटवारे के लिये वाद चलने योग्य नहीं होता भले ही उस सम्पत्ति में का अंश एक तीसरे पक्षकार को बेच भी दिया गया हो । आपसीकरार के द्वारा सम्पत्ति अथवा सदस्यों के सम्वन्ध में भागतः बंटवारा भी हो सकता है । जल अविभक्त परिवार का एक सदस्य परिवार से पृथक हो जाता है तो उसके पश्चात् अन्य सदस्य अविभक्त बने हुये हैं अथवा उनका पुरेकीकरण हो गया है, इस सम्वन्ध में कोई उपधारणा नहीं है ।

सामान्यता जंगम सम्पत्ति का बँटवारा स्थावर सम्पत्ति का बँटवारा हो जाने के पश्चात् होता है ।

विभाजन कैसे होता है– बंटवारा अविभक्त हैसियत का विच्छेद करता है । इसलिये यह किसी सदस्य की इच्छा अथवा संकल्प की वात होती है। जब तक परिवार का कोई सदस्य परिवार से अलग होने सम्वन्धी घोषणा नहीं करता है तब तक वह परिवार का सदस्य बना रहता है क्योंकि वह विधि की उपधारणा है कि हिन्दू परिवार अविभक्त होता है । धर्मशास्त्र एवं भाष्य सही इस प्रश्न पर एकमत हैं कि अविभक्त परिवार के किसी सदस्य द्वारा पृथक होने की इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र से ही बंटवाराहो जाता है ।

"यह अब सुस्थिर है कि अविभक्त परिवार की प्रास्थिति के विघटन के लिये सभी सहदायिकों के बीच करार होना अनिवार्य नहीं है, किन्तु यदि कोई भी सदस्य परिवार से पृथक होने और अपने अंश का पृथक् रूप से माँग करने के अपने आशय की अभिव्यक्ति निश्चित और असंदिग्ध रूप से कर देता है तो विधि की दृष्टि में प्रास्थिति का विभाजन हो जाता है ।"

संयुक्त परिवार की सम्पत्ति का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से होता है–

1. पृथक होने की घोषणा– संयुक्त परिवार के सदस्य द्वारा निश्चित और असंदिग्ध से पृथक होने की इच्छा की अभिव्यक्ति वँटवारा माना जाता है । यह अभिव्यक्त रूप से, अथवा विवक्षित रूप से, अर्थात् आचरण के द्वारा हो सकती है । बंटवारा की इच्छा व्यक्त करने वाले सदस्य द्वारा अन्य सदस्यों को इस आशय का पत्र लिखा, अथवा अन्य प्रकार से सूचना देना पृथक होने की अभिव्यक्ति रूप से इच्छा मानी जायेगी । अपने अंश में पड़ने वाली अविभक्त सम्पत्ति का पृथक् रूप से उपभोग विवक्षित रूप से पृथक् होने की इच्छा मानी जायेगी । जब एक सदस्य अपने पृथक होने की असंदिग्ध इच्छा अन्य सदस्यों पर प्रकट करता है तो परिवार की अविभक्त हैसियत तुरन्त ही समाप्त हो जाती है । वंटवारा की इच्छा की अभिव्यक्ति से अन्य सदस्यों का अवगत होना वंटवारा के लिये आवश्यक है कि नहीं, इस सम्वन्ध में उच्चतम

ISBT LAW College

Scanned with CamScanner

न्यायालय ने **रायदम्मा बनाम चेनदम्मा** के वाद में यह अभिनिर्धारित किया है कि पृथक होने की एक सदस्य की इच्छा से दूसरे सदस्यों के अवगत हुये बिना बंटवारा नहीं माना जा सकता है ।

2. सूचना-- एक सदस्य द्वारा अन्य सदस्यों को, अथवा परिवार के कर्ता को अपने पृथक होने की इच्छा की सूचना देने से भी बंटवारा हो जाता है यह बंटवारा सूचना देने की तिथि से होता है, न कि अन्य सदस्यों द्वारा उसके प्राप्त करने की तिथि से । यदि अविभक्त परिवार का कोई सदस्य पृथक होने के आशय की एक पक्षीय घोषणा करता है और बाद में उसे वापस ले लेता है तो उससे परिवार की पुरानी अविभक्ति स्थिति नहीं वापस लौटेगी ।

3. वाद प्रस्तुत करके– बँटवारा के लिये वाद प्रस्तुत करना, वाद प्रस्तुत करने वाले सदस्य की पृथक होने की इच्छा की स्पष्ट और असंदिग्ध अभिव्यक्ति मानी जाती है । कोई भी पुत्र अविभक्त परिवार की सम्पत्ति में अपने अंश के विभाजन तथा कब्जे के लिये वाद फाइल कर सकता है भले ही उसका पिता इसके लिये सहमति न दे और अपने भाई के साथ अविभक्ति बना रहे । अविभक्त परिवार के विभाजन के लिये यह आवश्यक नहीं है कि सभी सदस्य विभाजन के लिये सहमत हों । कोई भी सदस्य बंटवारा के लिये वाद फाइल कर सकता है ।

4. करार द्वारा — संयुक्त परिवार के सदस्यों के बीच मौखिक अथवा लिखित पृथक होने के आपसी करार से भी बंटवारा हो जाता है । किन्तु बंटवारा होने के लिये यह आवश्यक है कि करार में बंटवारा की इच्छा सुस्पष्ट रूप से व्यक्त हो । अविभक्त परिवार की सम्पत्ति के सहदायिकों में सौहार्दपूर्ण बंटवारा केवल प्रभावी होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि सारे सह-अंशधारी अपने-अपने अंशों के कब्जे में हों ।

5. मध्यस्थों की नियुक्ति द्वारा – संयुक्त परिवार की सम्पत्ति के आपस में बंटवारे के लिये परिवार के सदस्यों का आपसी करार द्वारा मध्यस्थों को नियुक्त करना करार करने की तिथि से परिवार की अविभक्ति हैसियत का विच्छेद माना जाता है । मध्यस्थों ने अभी पंचाट नहीं दिया इस बात से परिवार की अविभक्त हैसियत स्थिर नहीं मानी जायेगी ।

6. धर्म परिवर्तन द्वारा – यदि कोई सहदायिक धर्म परिवर्तन करके अन्य धर्म जैसे इस्लाम या ईसाई धर्म ग्रहण कर लेता है, तो वह अविभक्त परिवार से पृथक माना जाता है । वह सदस्य जाति निरर्हता निवारण अधिनियम 1850 के अनुसार परिवार की सम्पत्ति में अपने अधिकार से वंचित नहीं होगा ।

7. विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अधीन विवाह करने के द्वारा-- विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की धारा 19 के अनुसार उस अधिनियम के अधीन विवाह करने वाला हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन धर्म का व्यक्ति अपने परिवार से पृथक् हुआ माना जायेगा । इसके पूर्व विशेष विवाह अधिनियम, 1872 और विशेष विवाह अधिनियम, 1923 के अधीन विवाह करने पर यही परिणाम उत्पन्न होता था ।

8. अपने हित के विक्रय के द्वारा– जिन प्रान्तों में सहदायिक अविभक्त सम्पत्ति में अपने हित को बेचने में सक्षम हैं, वहाँ यदि वह समस्त अथवा कुछ सम्पत्तियों में अपना हित अन्य

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

सहदायिकों को बेच देता है, तो उस सम्पत्ति के सम्बन्ध में वह अन्य सहदायिकों से पृथक् माना जाता है ।

9. अन्य कृत्य के द्वारा-- उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त ऐसे अनेक कृत्य हैं जिनके द्वारा कोई सहदायिक अपने को परिवार से पृथक कर सकता है, अर्थात् उसके द्वारा किये जाने पर वे कृत्य उसका बंटवारा की अभिव्यक्ति माने जायेंगे । अपने को परिवार से पृथक करने की इच्छा से निवासगृह और चूल्हा अलग कर लेना, अविभक्त परिवार की सम्पत्ति में परिवार के सदस्यों के भाग का विनिर्दिष्ट हो जाना और इस रूप में अलग कर लेना, अविभक्त परिवार की सम्पत्ति में परिवार के सदस्यों के भाग का विनिर्दिष्ट हो जाना और इस रूप में अलग-अलग हिसाब-किताब तथा सम्पत्ति का ब्यौरा रखा इत्यादि इस प्रकार के कृत्य हैं ।

प्रश्न 3- नारी सम्पदा से आप क्या समझते हैं विस्तार से वर्णन कीजिये ?

उत्तर--नारी सम्पदा को सीमित सम्पदा के नाम से भी जाना जाता है । यह वह सम्पत्ति है जिसे नारी किसी पुरुष[1] अथवा नारी[2] से दाय में पाती है अथवा उसे बंटवारे में प्राप्त होती है ।[3] यह सम्पत्ति उसे केवल अपने जीवनकाल में उपभोग के लिये प्राप्त होती है । वह इसका अन्य-संक्रामक कतिपय विनिर्दिष्ट परिस्थितियों में हो कर सकती है । उसके मरने के पश्चात् यह सम्पदा उसके अपने दायादों को न प्राप्त होकर गत पूर्ण स्वामी के दायादों को प्राप्त होती है ।

नारी-सम्पदा का मूल कात्यायन एवं वृहस्पति के निम्नलिखित पाठों में पाया जाता है--

मृते भर्तरि भर्त्रंशं लभेत कुलपालिका ।
यावज्जीवं न हि स्वाम्यं दानाधमन विक्रये ॥ वृह० - कात्यायन ॥

(पति की मृत्यु के उपरान्त परिवार की पवित्रता की रक्षा करने वाली, अर्थात् सदाचरण करने वाली, विधवा उसके अंश को प्राप्त करे । किन्तु दान देने, बन्धक रखने अथवा विक्रय करने का अधिकार न हो ।)

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता ।
भुंजीतां आमरणात् क्षान्ता दायादाः उर्ध्व आप्नुयुः ॥ कात्या०॥

(पुत्रहीन, सती और अपने श्रेष्ठ जनों के साथ निवास करती हुई विधवा अपने जीवन भर (पति की सम्पत्ति का) संयत ढंग से उपभोग करे, उसके पश्चात् उसे (पति के) दायाद लेंगे ।)

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के पारित होने के पूर्व तक नारी-सम्पदा की एक विस्तृत विधि अस्तित्व में रही है । इस विधि का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जायेगा--

---

1. भगवानदीन दुबे बनाम मैना बाई, 11 एम० आई० ए० 487
2. शिवशंकर बनाम देवी सहाय, 30 आई० ए० 202
1. देवी मंगल प्रसाद बनाम महादेव प्रसाद, 39 आई० ए० 121

LGB LAW College

Scanned with CamScanner

1. नारी-सम्पदा होने वाली सम्पत्ति
2. नारी दायाद केहित का स्व रूप
3. नारी दायाद का अन्य संक्रमण की शक्ति
4. उत्तरभोगी
5. नारी-सम्पदा का समर्पण

नारी-सम्पदा होने वाली सम्पत्ति
(What Property is Women's Estate)

यदि नारी को कोई सम्पत्ति उत्तरदान या अनुदान में दी गई है और उसमें से अनिर्वन्धित अधिकार नहीं दिया गया है तो वह नारी सम्पदा होगी ।

वंटवारे में नारी को प्राप्त सम्पत्ति भी नारी सम्पदा ही होती है ।

संयुक्त परिवार की किसी विधवा को भरण-पोषण के लिये दी गई सम्पदा उसको मृत्यु के उपरान्त अविभक्त परिवार की सम्पत्ति में जुड़ जाती है । किन्तु यदि सम्पत्ति भरण-पोषण के वदले में दी गई है तो वह नारी की अनिर्वन्धित सम्पदा हो जाती है ।

हिन्दू नारी का सम्पत्ति का अधिकार अधिनियम, 1937 के द्वारा किसी हिन्दू की विधवा, उसकी विधवा पुत्रवधू और पौत्रवधू को उसकी सम्पदा को दाव में प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हुआ था । वह पुत्रों के अभाव में नहीं वल्कि उनके साथ ही दाय प्राप्त करती थी । दाय में उनका क्या अंश होता था, यह अधिनियम की धारा 3 में दिया गया है । अविभक्त परिवार की सम्पत्ति में हित रखने वाले किसी हिन्दू के मरने पर उसकी विधवा उसके हित को प्राप्त करती ती ।

नारी दायाद के हित का स्वरूप
(The nature of the interest of the female heir)

नारी का सम्पदा को ह्रास न पहुँचाने, अथवा उसे क्षतिग्रस्त न करने, अथवा संकट में न डालने, अथवा उसका अन्य संक्रमण न करने के कर्त्तव्य से यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि उसकी स्थिति न्यासधारी के सदृश है नारी का नारी-सम्पदा की सम्पत्ति के पूर्ण उपभोग का अधिकार है । वह अपने पश्चात् सम्पत्ति को पाने वालों को किसी भी अर्थ में न्यासधारी हीं है। वह सम्पदा का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करती थी किन्तु अन्य संक्रमण के सम्वन्ध में कुछ सीमाओं के अधीन थी । वह आय को वचाने के लिये वाध्य नहीं है न तो मूल को कहीं लगाने के लिये ही वाध्य है । यदि वह इसे कहीं व्यापारादि कार्य में लगाने की सोचती है तो एक, या दूसरे प्रकार के कार्य में इसे इसलिये लगानो को वह वाध्य नहीं है कि अमुक कार्य में इसका लगाना उत्तरभोगियों के हितों के लिये अधिक सुरक्षापूर्ण होगा ।

नारी दायाद का अन्य संक्रमण की शक्ति
(Power of aienation of the female owner)

नारी को नारी सम्पदा का अन्य संक्रमण करने की सामान्य शक्ति न होना नारी सम्पदा

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

का एक वैशिष्ट्य है । वह केवल कतिपय प्रयोजनों के लिये ही नारी सम्पदा का अन्य संक्रामण कर सकती है । नारी जिन प्रयोजनों के लिये नारी सम्पदा का अन्य संक्रामण कर सकती है उनका उल्लेख प्रिवी कौंसिल ने **कलक्टर आव मछलीपट्टम बनाम केवेली वैंकटा** में किया है । साथ ही शिशु उत्थान की सम्पत्ति का संरक्षक द्वारा शिशु की सम्पत्ति का अन्य संक्रामण करने के सम्बन्ध में जो नियम है, जिसे प्रिवी कौंसिल ने **हनुमान प्रसाद बनाम मुसुई मुनराज कुँवरी** में प्रतिष्ठित किया था, वह नारी द्वारा नारी-सम्पदा के अन्य संक्रमण के सम्बन्ध में भी लागू होती है ।

उत्तरभोगी
(Reversioners)

पति अथवा मृत स्वामी के अगले दायाद को, जिसे नारी सम्पदा नारी की मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होती है, उत्तरभोगी कहा जाता है । उत्तरभोगी कोई पुरुष, अथवा नारी हो सकती है । ये दो प्रकार के होते हैं -- वास्तविक तथा उपधारित । वास्तविक उत्तरभोगी वह है कि जो नारी की मृत्यु के समय अस्तित्व में रहता है और वह सम्पत्ति को प्राप्त करता है । उपधारित उत्तरभोगी वह है जो नारी के जीवनकाल में किसी समय सम्पत्ति को पाने की प्रत्याशा करता है । इस प्रकार वास्तविक उत्तरभोगी उपधारित उत्तरभोगी से भिन्न हो सकता है । वास्तविक उत्तरभोगी का अवधारण नारी की मृत्यु के समय की वस्तुस्थिति के आधार पर होने से, नारी के जीवनकाल में यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तविक उत्तरभोगी को होगा । उपधारित उत्तरभोगी वह है जो विधवा के जीवनकाल में उसकी मृत्यु के पश्चात् दाय पाने की आशा रखता है । यह वह व्यक्ति है जो मृत स्वामी का दायाद होगा, यदि विधवा उसी क्षण मृत्यु को प्राप्त हो तो । प्रिवी कौंसिल ने एक वाद में कहा है कि नारी सम्पदा चाहे जैसी भी हो, यह स्पष्ट है कि जब वह समाप्त नहीं होती यह कहना असम्भव है कि उसके पति के दायाद के रूप में कौन इसे प्राप्त करेगा । नारी सम्पदा के समाप्त होने तक उत्तराधिकार पति के दायादों के लिये उपलब्ध नहीं होता । सम्पदा की समाप्ति पर सम्पत्ति उन लोगों को प्राप्त होती है जो, यदि पति आज तक जीवित रहा होता और विधवा की मृत्यु के साथ ही उसकी मृत्यु हुई होती तो उसके दायाद हुए होते ।

नारी-सम्पदा का समर्पण
(Surrender of Women's Estate)

न्यायालयों ने अभ्यर्पण के सम्बन्ध में विस्तृत नियमों को प्रतिष्ठित किया है । प्रथमतः अभ्यर्पण समस्त सम्पदा का होना चाहिये । अभ्यर्पण विधवा की सिविल मृत्यु माना जाता है, अतएव उसका अपने समस्त हित को त्याग देना आवश्यक है । किन्तु अज्ञानवश अथवा भूल-चूक के कारण सम्पत्ति का कुछ भाग अभ्यर्पण में छूट गया है तो उसके लिये अभ्यर्पण अविधिमान्य नहीं होगा । यदि विधवा सम्पत्ति का थोड़ा सा अंश या थोड़ा सा हित अपने भरणपोषण के लिये रख लेती है और यह सद्भावनापूर्वक है तो भी अभ्यर्पण अविधिमान्य नहीं होगा । यदि अभ्यर्पण करने का विधवा का आशय है तो इस प्रकार का अभ्यर्पण विधिमान्य

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

होगा। यदि नारी अभ्यर्पण का सम्पत्ति को अपने और उत्तरभोगियों के बीच बांट लेने का साधन बनाती है ।

प्राचीन काल में सम्पत्ति के स्वामित्व के सम्बन्ध में नारी अनेक निरर्हताओं से ग्रस्त थी। नारी-सम्पदा उसी का परिणाम है । दाय में पुरुष अथवा नारी से प्राप्त की गई सम्पत्ति नारी सम्पदा होती थी । महाराष्ट्र में यह नियम थोड़े परिवर्तन के साथ था । नारी इस सम्पत्ति के सम्बन्ध में स्वामित्व को दो प्रमुख वैशिष्ट्यों- व्ययन का अधिकार, तथा सम्पत्ति का अपने दायदों पर न्यागत होना-- से वंचित थी । न्यायालयों में नारी को थोड़ी छूट देने का प्रयत्न किया, किन्तु उससे विधि में दुरुहता उत्पन्न हुई । नारी का सम्पत्ति का अधिकार अधिनियम 1937 ने इस स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं किया । इस प्रकार नारी सम्पदा की विधि आधुनिक युग की धारणाओं एवं प्रवृत्तियों के प्रतिकूल होने के साथ ही जटिलता से पूर्ण थी । हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 14 ने नारी-सम्पदा को समाप्त कर दिया है । अब नारी के कब्जे में रहने वाली प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति, जिसमें दाय में प्राप्त सम्पत्ति भी सम्मिलित है, की वह पूर्ण स्वामिनी है । इस प्रकार नारी-सम्पदा की विधि अब भूतकाल की विधि हो गई है ।

प्रश्न 4. दान की परिभाषा दीजिए तथा कौन-कौन सी सम्पत्ति का दान किया जा सकता है ?

उत्तर-- हिन्दू विधि के अनुसार दान का तात्पर्य एक व्यक्ति द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के पक्ष में अपनी सम्पत्ति के बिना कोई प्रतिफल लिये त्याग करने से है, जिसके परिणाम उस सम्पत्ति में दाता के स्वामित्व को समाप्त करना, और आदाता के स्वामित्व की सृष्टि करना होता है ।[1]

हिन्दू दान के निम्नलिखित तत्व होते हैं--

दाता-- दान देने वाला दाता कहलाता है । इसमें प्रथमतः दान करने के लिये क्षमा का होना आवश्यक है । क्षमता से तात्पर्य दाता के स्वस्थ चित्त, और प्राप्तवय होने से है । दूसरे दाता के पास दान में दी जाने वाली वस्तु को देने का अधिकार होना चाहिये । अधिकार से यह अर्थ है कि दान में दी जाने वाली वस्तु के ऊपर दाता का पूर्ण स्वामित्व है । ऐसा होने पर ही वह उस सम्पत्ति के सम्बन्ध में कोई लेन-देन कर सकता है ।

अदाता-- दान प्राप्त करने वाला अदाता कहलाता है । आदाता की विशेषताओं के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा गया है कि उसका दान को स्वीकार करना आवश्यक है । आदाता की स्वीकृति के बिना दान पूर्ण न होने से दान के समय उसका अस्तित्व में होना आवश्यक है । इस नियम को प्रिवी कौंसिल ने टैगोर बनाम टैगोर के वाद में प्रामाणिक रूप से प्रतिष्ठित किया है । इस नियम में प्रस्तुत शताब्दी में अधिनियमों द्वारा परिवर्तन किया गया है ।

---

1. स्व स्वत्वध्वं सपूर्व्व परस्वत्वापतिफलकचेतनोद्देशपूर्वकत्यागो दानम् ।

SBLAW College

Scanned with CamScanner

स्वीकृति– आदाता को स्वीकृति दान की पूर्णता के लिये कहाँ तक आवश्यक थी, इसके सम्बन्ध में मिताक्षरा और दायभाग में मतभेद है । मिताक्षरा के अनुसार दान की पूर्णता के लिये आदाता की स्वीकृति अनिवार्य है । इस स्वीकृति के विना सम्पत्ति आदाता में निहित नहीं हो सकती है । दाय भाग के अनुसार स्वीकृत आवश्यक नहीं है । इस सम्बन्ध में मिताक्षरा का मत अधिक समीचीन एवं तर्कपूर्ण है ।

औपचारिकतायें– दान की पूर्णता सम्पत्ति को आदाता के कब्जे में देने से होती थी । यद्यपि विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा में इस प्रकार के लेखांश हैं जिनमें प्रकट होता है कि बिना कब्जा दिये हुये भी दान पूर्ण हो सकता था किन्तु प रवर्ती काल में कब्जे को दान का एक अनिवार्य अंग माना गया था । जंगम सम्पत्ति के दान में इसके अतिरिक्त किसी अन्य औपचारिकताओं का प्रश्न है, विज्ञानेश्वर में लिखा है कि भूमि छः औपचारिकताओं के द्वारा आदाता की होती है, ग्रामवासियों को, स्वजनों की, पड़ोसियों की, दायादों की सम्मति और स्वर्ण एवं जल के दान से । इस कथन की व्याख्या करते हुये विज्ञानेश्वर ने लिखा है कि ग्रामवासियों की सम्मति दान के प्रख्यापन के लिये थी और पड़ोसियों की सहमति यदि भूमि की सीमा के सम्बन्ध में किसी प्रकार के झगड़े हों तो उनके निराकरण के लिये ।

दान के योग्य वस्तु

दान के योग्य वस्तु के सम्बन्ध में एक बात ऊपर लिखी जा चुकी है कि उस पर दाता का पूर्ण स्वामित्व होना चाहिये । इसके अनुसार मिताक्षरा और दायभाग दोनों शाखाओं में कोई हिन्दू अपनी पृथक सम्पत्ति को दान में दे सकता है, चाहे वह जंगम हो अथवा स्थावर । जहाँ तक किसी व्यक्ति के अविभक्त कुटुम्ब में अविभक्त हित को दान करने का प्रश्न है, दायभाग में ऐसा हित दान में दिया जा सकता है । मिताक्षरा शाखा में कोई सहदायिक अविभक्त परिवार की अविभक्त सम्पत्ति में अपने हित को दान में नहीं दे सकता है, क्योंकि उसका हित बँटवारा न होने तक अनिश्चित रहता है । कोई नारी अपने स्त्रीधन की सम्पत्ति को दान में दे सकती थी । इस सामान्य नियम का अपवाद केवल उसकी दो प्रकार की सम्पत्तियाँ थीं– नारी को असम्बन्धियों से दान में प्राप्त सम्पत्ति और उसकी स्वयं अपने श्रम और कौशल से अर्जित सम्पत्ति। इन सम्पत्तियों को नारी अपनी सधवावस्था में पति की सहमति के बिना दीन में नहीं दे सकती थी । अविभाज्य सम्पदा का स्वामी इसे दान में दे सकता था, जब तक कि किसी रूढ़ि द्वारा सम्पत्ति के इस प्रकार अन्तरण पर कोई प्रतिबिन्ध न हो । इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रकार की सम्पत्तियाँ यद्यपि उनमें दाता की स्वामित्व होता है, दान में नहीं दी जा सकती थीं – (1) दाता और अन्य व्यक्तियों के बीच साझे की सम्पत्ति (2) वह सम्पत्ति जिसमें वे कुटुम्ब के सदस्यों के भरण पोषण के लिये पर्याप्त बचा नहीं लिया गया है, (3) समस्त सम्पत्ति जबकि उसमें से

1. पी०एन०सेन कृत हिन्दू जूरिसप्रूडेन्स, पृ० 84

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

सन्तानों के जीवनयापन की व्यवस्था करनी है, (4) यह सम्पत्ति जिसे किसी को देने का वचन दिया जा चुका है ।' जहाँ तक साझे की सम्पत्ति को दान में देने का निषेध था यह इस आधार पर था कि साझे की सम्पत्ति में दाता का अनिर्बन्धित स्वामित्व नहीं होता था। यद्यपि पीछे चलकर यह नियम प्रतिष्ठित हो गया कि साझे की सम्पत्ति होने पर कोई व्यक्ति अपने अंश का दान कर सकता है, और आदाता उसके अंश को प्राप्त कर सकता है । साझे की सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के सम्बन्ध में जो प्रतिबन्ध थे वे नैतिक ढंग के थे और उनका अतिक्रमण करने दान अविधिमान्य नहीं होता था।

शून्य दान-- कतिपय स्थितियों में किया गया दान शून्य होता था । नारद ने इस प्रकार की 16 स्थितियों का उल्लेख किया है--

जो किसी मनुष्य द्वारा भय, क्रोध अथवा गम्भीर दुःख से आक्रान्त होकर अथवा घूस के रूप में अथवा विनोद में, अथवा भ्रमवश अथवा किसी कपटपूर्ण आचरण में फँसकर दिया गया है, जो किसी अवयस्क, मूढ़, विवाध्यता में पड़े व्यक्ति, अथवा व्याधि के कारण अव्यवस्थित चित्त वाले व्यक्ति, मदोन्मत्त व्यक्ति अथवा पागल द्वारा दिया गया है, जो इस विचार से दिया गया है कि आदाता उसके वदले में कोई सेवा करेगा, जो अज्ञानतावश किसी बुरे मनुष्य को दिया गया है, जिनसे अपने भले मनुष्य होने का स्वांग किया था, अथवा किसी सत्कार्य के लिये (जहाँ वस्तुतः ऐसा कोई कार्य करने की वात नहीं थी) दिया गया है, इन स्थितियों में दान दी गई वस्तुयें नहीं दी गई कही गई है । दान के शून्य होने के इन आधारों को देखने से यह स्पष्ट है कि आधुनिक काल में थी इसमें से अनेक आधार किसी दान को शून्य वना देंगे । वस्तुतः उपरोक्त आधारों को दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है-- (1) दाता में क्षमता का न होना, और (2) दान में वास्तविक अथवा स्वेच्छा का अभाव । दान के शून्य होने के कुछ आधारों का उल्लेख मनु ने भी किया है ।

मुमूर्ष दान-- मुमूर्ष दान, अर्थात् मृत्युशैय्या पर दिया गया दान, विधिमान्य होता था, किन्तु दाता के व्याधि से छुटकारा पाकर स्वस्थ हो जाने, अथवा आदाता के उसके पूर्व ही मर जाने की स्थिति में दान शून्य होता था । कुछ स्थितियों में ऐसा दान दाता की मृत्यु के पश्चात् भी प्रभावकारी होता था । धार्मिक कार्यों के लिये किये गये दान के सम्बन्ध में यह नियम नहीं लागू होता था । कात्यायन के अनुसार जो वस्तु किसी मनुष्य ने दे दिया है, अथवा देने का वचन दिया है, चाहे वह उसके स्वस्थ रहते किया गया हो, अथवा अस्वस्थ रहने की स्थिति में, वह अवश्य दे दिया जाना चाहिये ।

दान का प्रतिसंहरण-- दान किन स्थितियों में प्रतिसंहृत हो सकता था, इसके सम्बन्ध में नारद का पाठ मिलता है जिसमें कहा गया है कि जो वस्तु एक वार किसी विके हुये सामान के मूल्य के रूप में, मजदूरी के रूप में, किसी आमोद-प्रमोद के लिये, स्वाभाविक स्नेहवश, किसी उपकार के वदले के रूप में, वधू अथवा उसके परिवार को विवाह उपहार के रूप में, अथवा किसी पारलौकिक लाभ-प्राप्ति को ध्यान में रखकर दी गई है वह फिर ली नहीं जा सकती ।

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

प्रश्न 5. हिन्दू विवाह अधिनियम के अन्तर्गत एक वैध विवाह की आवश्यक शर्तें क्या हैं ?

उत्तर- विवाह की संस्था हिन्दू समाज में अति प्राचीन काल से प्रचलित है । हिन्दू विधि एवं समाज में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है । विवाह एक ऐसा संस्कार है जो किसी के लिये भी वर्जित नहीं था । प्रत्येक व्यक्ति इसका अधिकारी था । यहाँ हम उन शर्तों का विवेचन करेंगे जिनका विवाह के लिये पालन किया जाना आवश्यक था । हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 5 के अन्तर्गत वैध विवाह के लिए निम्नलिखित शर्तें निर्धारित की गई हैं --

1. एक विवाह (Monogamy)-- विवाह के समय दोनों पक्षकारों में से न तो वर की कोई पत्नी हो और न वधू का कोई जीवित पति हो । यह शर्त हिन्दू विधि में एक-विवाह का नियम प्रतिष्ठित करती है । इस शर्त की शब्दावली से स्पष्ट है कि विवाह के पक्षकारों को विवाह के समय दूसरा पति या पत्नी जीवित नहीं होनी चाहिये । ये क्वारि, अथवा विधूर या विधवा हो सकते हैं । इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि क्वांरी तथा विधवा स्त्री के विवाह में कोई अन्तर नहीं है और दोनों के विवाह में एक ही प्रकार की शर्तों एवं संस्कारों का पालन करना पड़ेगा । इस शर्त का पालन परम आवश्यक है क्योंकि इसके उल्लंघन के दो कठोर परिणाम होते हैं । प्रथमतः ऐसा विवाह आरम्भतः और स्वतः अकृत एवं शून्य होता है । दूसरे, ऐसे विवाह धारा 17 के अनुसार दण्डनीय है

हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 17 के अधीन दूसरे विवाह के शून्य होते हुए भी दण्ड संहिता की धारा 494 और 495 भी लागू होती है ।

यदि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 5(1) का उल्लंघन हुआ है तो विवाह के पक्षकारों के अतिरिक्त कोई तीसरा व्यक्ति भी जो किसी भी प्रकार से इस विवाह से पीड़ित है ऐसे विवाह की तिथि मान्यता को चुनौती दे सकता है और न्यायालय इसे शून्य एवं निष्प्रभावी घोषित कर सकता है ।

2. चित्त-विकृति (Unsoundness of mind)-- विवाह के समय दोनों पक्षकारों में से कोई--

(क) चित्त-विकृति के परिणामस्वरुप विधिमान्य सम्मति देने में असमर्थ न हो; या

(ख) विधिमान्य सम्मति देने में असमर्थ होने पर भी इस प्रकार के या इस हद तक मानसिक विकार से ग्रस्त न हो कि वह विवाह और सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य हो; या

(ग) उसे उन्मत्तता का दौरा बार-बार न पड़ता हो ।

(घ) जो व्यक्ति बौद्धिक शक्ति से इतना कमजोर है कि वह सही बात न समझ सके ।

इस बात के उल्लंघन होने पर धारा 12 के अनुसार विवाह शून्यकरणीय हो जाता है। इस धारा में विवाह के समय का यह अर्थ होता है यदि पक्षकार विवाह के समय स्वस्थ मस्तिष्क थे, किन्तु बाद में अस्वस्थ मस्तिष्क का अथवा पागल हो गया है तो इस बात से विवाह की वैधता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

ISB LAW College

Scanned with CamScanner

3. विवाह की आयु-- विवाह के समय वर ने 21 वर्ष की आयु और वधू ने 18 वर्ष की आयु पूरी कर ली हो । वाल विवाह अवरोध अधिनियम, 1929 ने वर और वधू की क्रमशः यही आयु निर्धारित की है । इस शर्त के उल्लंघन से विवाह की विधि-मान्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु अधिनियम की धारा 18 के अनुसार यह अपराध है । इसका दण्ड सादा कारावास जो 15 दिन तक का हो सकता है या जुर्माना, जो १ हजार रुपये तक हो सकता है, अथवा दोनों हो सकता है । गजरानरन भूरा वनाम कमली कनवर वाई पर्वत के वाद के अनुसार ऐसे विवाह के अविधिमान्य या शून्य न होने से उसके पक्षकार विवाह से उत्पन्न अधिकारों एवं दायित्वों के अधीन बन रहेंगे ।

4. प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियाँ - जव तक कि दोनों पक्षकारों में से हर एक को शासित करने वाली रूढ़ि या प्रथा से उन दोनों के वीच विवाह अनुज्ञात न हो, कि वे प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियों के भीतर न हों । प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियाँ की परिभाषा अधिनियम की धारा 3 में निम्न रूप में दी गई है--

प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियाँ-- दो व्यक्ति प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियों के भीतर कहे जाते हैं--

(i) यदि एक उनमें से दूसरे का पारस्परिक पूर्व-पुरुष हो, या

(ii) यदि एक उनमें से दूसरे के पारस्परिक पूर्व-पुरुष या वंशज की पत्नी या पति रहा हो, या

(iii) यदि एक उनमें से दूसरे के भाई की, या पिता अथवा माता के भाई की, या पितामह अथवा पितामही के भाई की, या मातामह अथवा मातामही के भाई की पत्नी रही हो,

(iv) यदि वे आपस में भाई और बहिन, ताया, चाचा और भतीजी, मामा और भांजी, फूफी और भतीजा, मौसी और भांजा या भाई-बहन के अपत्य, भाई-भाई के अपत्य अथवा बहिन-वहिन का अपत्य हों;

यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्रतिषिद्ध सम्बन्ध निम्नलिखित को भी सम्मिलित करता है--

1. सहोदर, सौतेला अथवा अन्य सगा - सम्बन्धी ।
2. अवैध तथा वैध रक्त सम्बन्धी ।
3. रक्त अथवा दत्तक से सम्बन्धित ।

अपवाद-- यदि विवाह के पक्षकार ऐसी प्रथा से प्रशासित होते हैं जिसके अनुसार उपर्युक्त प्रतिषिद्ध सम्बन्धों के बीच विवाह सम्बन्ध हों, तब यह शर्त लागू नहीं होती । किन्तु ऐसी प्रथा दोनों पक्षकारों में प्रचिलित होनी चाहिये ।

इस शर्त का उल्लंघन पर धारा 11 के अनुसार विवाह अकृत एवं शून्य होता है, साथ ही विवाह के पक्षकार अधिनियम की धारा 18 के अनुसार दण्ड सादा कारावास जो एक माह तक का हो सकता है, या जुर्माना जो एक हजार रुपये तक हो सकता है या दोनों होगा ।

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

(5) विवाह के पक्षकार एक-दूसरे के सपिण्ड न हों– जब तक कि दोनों पक्षकारों में से हर एक को शासित करने वाली रूढ़ि या प्रथा से उन दोनों के बीच विवाह अनुज्ञात न हो, वे एक-दूसरे के सपिण्ड न हों । तात्पर्य यह है कि वर और वधु को एक-दूसरे का सपिण्ड नहीं होना चाहिये । किन्तु यदि दोनों किसी ऐसी रूढ़ि या प्रथा से शासित होते हैं जिसके अनुसार सपिण्ड विवाह वर्जित नहीं है तो ऐसा विवाह हो सकता है । अधिनियम की धारा 3 (च) में सपिण्ड की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

(i) सपिण्ड नातेदारी जब किसी व्यक्ति के प्रति हो तो माता के माध्यम से उसकी ऊपरली ओर की परम्परा में तीसरी पीढ़ी तक और पिता के माध्यम से उसकी ऊपरली ओर की परम्परा में पांचवी पीढ़ी तक जाती है, हर एक दशा में वंश-परम्परा सम्पृक्त व्यक्ति से जिसे पहली पीढ़ी का गिना जाएगा ऊपर की ओर चलेगी,

(ii) दो व्यक्ति एक - दूसरे के सपिण्ड तब कहे जाते हैं जब तक कि या तो एक उनमें से दूसरे का सपिण्ड नातेदारी की सीमाओं के भीतर पूर्व पुरुष हो या जबकि उनका ऐसा कोई एक ही पारम्परिक पूर्व पुरुष जो, निर्देश उनमें से जिस किसी के भी प्रति हो, उससे सपिण्ड नातेदारी की सीमाओं के भीतर हो ।

इस प्रकार सपिण्ड सम्बन्ध को भी सम्मिलित करता है–

(i) सहोदर, सौतेला तथा सगा सम्बन्धी ।

(ii) वैध तथा अवैध से सम्बन्धित ।

(iii) दत्तक ग्रहण अथवा रक्त से सम्बन्धित ।

इस शर्त के उल्लंघन करने पर विवाह का वह पक्षकार जो इस प्रकार के विवाह की व्यवस्था कराने के लिये उत्तरदायी होगा उसे धारा 17 के अन्तर्गत एक माह तक की साधारण कैद अथवा 1000 रुपयों का जुर्माना अथवा दोनों दण्ड दिये जा सकते हैं ।

प्रश्न 6. न्यायिक पृथक्करण से आप क्या समझते हैं व्याख्या कीजिए ?

उत्तर– विवाह सम्बन्ध जब तक बना रहता है तब तक विवाह के दोनों पक्षकारों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे एक-दूसरे को साहचर्य दें । किन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिसमें एक पक्षकार के लिये यह करना कठिन हो जाता है । ऐसी अवस्था में विधि ने पृथकता की व्यवस्था की है । इसके हो जाने पर जिस पक्षकार ने इसके लिये प्रार्थना की थी वह दूसरे पक्षकर को साहचर्य देने के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है । चूँकि यह पृथक्करण न्यायालय द्वारा किया जाता है इसलिए इसे न्यायिक पृथक्करण कहते हैं । प्राचीन हिन्दू विधि में ऐसे पाठ मिलते हैं जिनसे ऐसा अर्थ निकला जा सकता है कि पृथक्करण की व्यवस्था उस समय थी, किन्तु ठीक-ठीक स्थिति क्या थी इसकी जानकारी नहीं है ।

अतः हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 10, जो न्यायिक पृथक्करण का उपबन्ध करती है, को देखने से यह स्पष्ट होता है कि यह अनुतोष भूतलक्षी है, अर्थात् यह हिन्दू विवाह अधिनियम के पूर्व के हुए विवादों और अधिनियम के पारित होने के बाद के हुए विवादों, दोनों

ISB LAW College

Scanned with CamScanner

पर लागू होता है । यह अनुतोष विवाह के दोनों पक्षकारों को उपलब्ध है । पति और पत्नी दोनों इसके लिये अर्जी प्रस्तुत करने के अधिकारी हैं ।

किन कारणों पर न्यायिक पृथक्करण की डिक्री दी जायेगी, इस सम्बन्ध में 1976 के संशोधन अधिनियम के पारित होने के पूर्व धारा 10 में अनेक आधार दिए गए थे । ये आधार साधारणतः विवाह-विच्छेद के आधारों के ही समान थे । दोनों में मुख्य अन्तर यह था कि न्यायिक पृथक्करण के मामले में वे हल्के थे । इसे देखते हुए विधि आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि चूंकि हम विहित अवधियों को समाप्त कर रहे हैं, इसलिये धारा 10 (1) में न्यायिक पृथक्करण के आधारों का विनिर्दिष्ट उल्लेख आवश्यक नहीं है । यह उपधारा इस प्रकार पुनरीक्षित की जानी चाहिये जिससे कि उसमें धारा 13(1) में (जो विवाह-विच्छेद से सम्बन्धित है) सम्मिलित आधारों के प्रति निर्देश हों ।

तदनुसार धारा 10(1) में यह उपलबन्ध किया गया है कि विवाह के पक्षकारों में कोई पक्षकार चाहे वह विवाह इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व अनुष्ठापित हुआ हो चाहे पश्चात् जिला न्यायालय को धारा 13 की उपधारा (1) में और पत्नी की दशा में उसकी उपधारा (2) के अधीन विनिर्दिष्ट आधारों में से किसी ऐसे आधार पर, जिस पर विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी उपस्थापित की जा सकती थी, न्यायिक प्रथक्करण की डिक्री के लिए प्रार्थना करते हुए अर्जी उपस्थापित कर सकेगी ।

इस प्रकार न्यायिक प्रथक्करण की डिक्री धारा 10(1) में निर्दिष्ट आधारों में से एक या दूसरे पर ही दी जा सकती है अन्यथा नहीं ।

न्यायिक पृथक्करण की डिक्री विवाह को तोड़ती या समाप्त नहीं करती है अपितु यह सम्पत्ति को एक अवसर प्रदान करती है कि मेल मिलाप और पुनः समायोजन कर सकें । अर्जीदार द्वारा न्यायिक पृथक्करण की डिक्री प्राप्त कर लने के परिणाम यह है कि उसके पश्चात् अर्जीदार प्रत्यर्थी के साथ सहवास करने के दायित्व से मुक्त हो जाता है । किन्तु न्यायालय धारा 10(2) के अधीन ऐसे डिक्री को विखण्डित भी कर सकता है यदि उस डिक्री का अर्जीदार अथवा प्रत्यर्थी अर्जी द्वारा उसे विखण्डित करने का आवेदन करता है और न्यायालय अर्जी में किये गये कथनों की सत्यता के बारे में अपना समाधान कर लेता है और डिक्री को विखण्डित करना न्याय और युक्तियुक्त समझता है ।

प्रश्न 7. हिन्दू विधि के अनुसार दत्तक ग्रहण को समझाइये ।

उत्तर-- मनु के अनुसार--

माता पिता वा दद्यातां यमदि्भः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः ।।9।।168

दत्तक ग्रहण किसी पुत्र के अभाव में एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है । दत्तक ग्रहण से हमारा अर्थ है कि माता या पिता (ग्रहण करने वाले के) समान वर्ण वाले जिस पुत्र को पुत्र के अभाव रूप आपत्ति काल में प्रेमपूर्वक (किसी भय या लालच से नहीं) जल के साथ (जल के

JSPLAW College

Scanned with CamScanner

साथ का तात्पर्य, संकल्प कर देने से है) दे देते हैं उसे दत्तक पुत्र जानना चाहिए ।

शुक्रशोणितसम्भवः पुत्रो मातापितृनिमित्तकः ।
तस्य दानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः।
नत्येकं पुत्रं दद्यात् प्रगृहणीयात् वा सहि सन्तानाय पूर्वेषाम् ।
न तु स्त्री दद्यात् प्रतिगृह्णीयात् या अन्यत्र अनुज्ञानात् भर्तुः ॥

अर्थात् वीर्य और गर्भाशय के रक्त से निर्मित होकर मनुष्य अपने पिता और माता से उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे कारण से कार्य । इसलिए पिता और माता का पुत्र का दान कर देने, विक्रय कर देने और त्याग कर देने का अधिकार होता है । किन्तु किसी को अपने एकमात्र पुत्र को न दत्तक देना चाहिए न ऐसा पुत्र दत्तक लेना चाहिए, क्योंकि अपने पूर्वजों को वंश-परम्परा बनाये रखने के लिए उसे रहना चाहिये । किसी नारी को अपने पति की आज्ञा के बिना पुत्र को न तो देना चाहिए न लेना चाहिए -

दत्तक विधि का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचना किया जायेगा

1. दत्तक कौन ले सकता है ?
2. दत्तक कौन दे सकता है ?
3. दत्तक कौन लिया जा सकता है ?
4. दत्तक के कर्मकाण्ड ।
5. दत्तक के कानूनी परिणाम ।

दत्तक कौन ले सकता है (Who may adopt)

कोई पुरुष जिसके पास दाय ग्रहण करने योग्य पुत्र न हो, दत्तक ले सकता है । यहाँ पुत्र से तात्पर्य पुत्र और प्रपोत्र से है, क्योंकि श्राद्धकर्म करने तथा दाय ग्रहण करने में ये तीनों समान रूप से सक्षम हैं । इनके आगे के वंशजों, जैसे प्रपोत्र के पुत्र, के अस्तित्व से दत्तक लेने का अधिकार समाप्त नहीं होता । पुत्री का पुत्र होने से भी दत्तक लेने का अधिकार नहीं समाप्त होता । पुत्र के अन्तर्गत दत्तक पुत्र भी आता है इसलिए एक दत्तक पुत्र के रहते दूसरा दत्तक पुत्र नहीं लिया जा सकता है । दत्तक पुत्र की सहमति भी दूसरे दत्तक को विधिमान्य एवं वैध नहीं बना सकती है । पुत्र से तात्पर्य उसके वस्तुतः अस्तित्व में होने से है, इसलिए पत्नी का गर्भवती होना और प्रसव-काल का अति निकट होना भी दत्तक लेने के अधिकार को नहीं समाप्त कर सकता है ।

हिन्दू धारणा के अनुसार नारी का पति से स्वतंत्र एवं भिन्न कोई पारलौकिक हित न होने से उसे स्वयं से और अपने लिए दत्तक लेने का अधिकार नहीं था । इसलिए कोई भी अविवाहिता नारी किसी भी दशा में दत्तक नहीं ले सकती थी । विवाहिता नारी के पति को ही दत्तक लेने का अधिकार था जिसे वह पत्नी की असहमति अथवा विरोध के होते हुए भी ले सकता था । पति के जीवित रहते नारी केवल उसकी अनुमति से और उसके लिये दत्तक ले सकती थी ।

पति के मरने पर विधवा पति की अनुमति मिली रहने पर पति के लिए दत्तक ले सकती

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

थी । विधवा द्वारा दत्तक लेना पति की ओर से से एवं पति के पारिलौकिक लाभ के लिए होता था । वह पति के अभिकर्ता के रूप में कार्य करती थी ।

भुवनमयी बनाम रामकिशोर से विधवा के दत्तक लेने की शक्ति पर समय की सीमा लगाने का प्रारम्भ होता है । इस वाद में एक व्यक्ति गौरीशंकर अपने पीछे अपने एकमात्र पुत्र भवानी किशोर और विधवा चन्द्रावली को छोड़कर मरा । उसने अपने जीवनकाल में ही अपनी पत्नी चन्द्रावली को प्रकट रूप से यह प्राधिकार दे रखा था कि पुत्र की मृत्यु की दशा में वह दत्तक ले लें । भवानी किशोर का विवाह हुआ और उसके कुछ काल पश्चात् वह चौहीस वर्ष की अवस्था में सन्तानहीन और अपने पीछे अपनी विधवा भुवनमयी को छोड़कर परलोकवासी हुआ, जो उसके पीछे उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारी हुई । उसने एक पुत्र को दत्तक लिया । चन्द्रावली ने भी एक पुत्र राम किशोर को दत्तक लिया । रामकिशोर ने भवानी किशोर की विधवा भुवनमयी से भू-सम्पत्ति का कब्जा प्राप्त करने के लिये वाद प्रस्तुत किया । कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत ने यह निर्णय दिया कि भुवनमयी द्वारा लिया गया दत्तक अविधिमान्य था और चन्द्रावली द्वारा लिया गया दत्तक विधिमान्य था । इस निर्णय के विरुद्ध भुवनमयी ने प्रिवी कौंसिल में अपील की।

प्रिवी कौंसिल ने यह यह निर्णय दिया कि भवानी किशोर की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पदा भुवनमयी में निहित हुई और चन्द्रावली दत्तक लेने के द्वारा उस सम्पदा से उसे वंचित नहीं कर सकती थी यदि भवानी किशोर के भाई भी होते तो उस सम्पदा की वह उत्तराधिकारिणी होती । यह बहुत ही विचित्र बात होगी कि जिस सम्पदा से भुवनमयी को उसके पति के सगे भाई तक नहीं वंचित कर सकते उससे दत्तक द्वारा भवानी किशोर का बनाया गया भाई वंचित कर दे । दूसरे चन्द्रावली ने जब दत्तक लेने की शक्ति का प्रयोग किया उस समय वह प्रयुक्त होने योग्य नहीं थी । पुत्र के अपनी विधवा को अपने दायाद के रूप में छोड़कर मरने या माता की दत्तक लेने की शक्ति समाप्त हो जाती है ।

भुवनमयी और चन्द्रावली की मृत्यु के उपरान्त रामकिशोर के दत्तक लिये जाने की वैधता का प्रश्न एक बार पुनः प्रिवी कौंसिल के सम्मुख आया । सम्पत्ति रामकिशोर के कब्जे में आ गयी थी और यदि उसका दत्तक लिया जाना विधिमान्य होता तो निस्सन्देह ही भुवनमयी के पश्चात् वह दायाद था । एक दूर के सांपार्शिव ने सम्पत्ति पर इस आधार पर दावा किया कि रामकिशोर का दत्तक लिया जाना अवैध था । प्रिवी कौंसिल ने यह कहा कि सम्पदा के भवानी किशोर की विधवा पर न्यागत होने के पश्चात् चन्द्रावली की दत्तक लेने की शक्ति समाप्त हो गई और इसलिए रामकिशोर का सम्पत्ति पर कोई हक नहीं है । प्रिवी कौंसिल का यह विनिश्चय अनेक परवर्ती वादों में अनुसारित किया गया ।

दत्तक कौन दे सकता है
(Who may adopt)

मनु के अनुसार पिता अथवा माता ही पुत्र को दत्तक देने का अधिकारी है । वशिष्ठ का पाठ भी ऐसी ही बात कहता है । मिताक्षरा का भी ऐसा ही मत है ।

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

जब तक पिता जीवित रहता है तब तक पुत्र को दत्तक देने का एकमात्र अधिकार उसी का होता है । माता दत्तक केवल उसकी सहमति से ही दे सकती है । पिता पुत्र को माता की सहमति के बिना और उसकी इच्छा के विरुद्ध भी दत्तक दे सकता है । पुत्र को दत्तक देने के लिये पिता का प्राप्तवय एवं स्वस्थ चित्त होना आवश्यक है । धर्मपरिवर्तन कर देने पर पिता का पुत्र को देने का अधिकार समाप्त हो जाता है । पिता के किसी निरर्हता से जैसे कोढ़, गूँगापन, अंधापन इत्यादि से ग्रस्त होने पर भी दत्तक देने का अधिकारी है ।

माता पुत्र को पिता के जीवनकाल में केवल उसकी सहमति से ही, अथवा उसके सहमति देने में अक्षम हो जाने पर, अथवा उसके स्थायी रूप से अनुपस्थित हो जाने पर, अथवा उसके संसार का परित्याग कर देने पर अथवा उसके विकृत चित्त हो जाने पर अपने अधिकार से पुत्र को दत्तक के लिये दे सकती है ।

दत्तक कौन लिया जा सकता है ?
(Who may be adopted)

दत्तक मीमांसा के अनुसार पाँच वर्ष से अधिक आयु के बालक को दत्तक नहीं लिया जा सकता है । दत्तकचन्द्रिका के अनुसार द्विजों में उपनयन संस्कार और शूद्रों में विवाह-संस्कार के पूर्व ही बालक को दत्तक लिया जा सकता है ।

अधिनियम की धारा 10 के अन्तर्गत उस व्यक्ति के लिए आवश्यक योग्यताओं का विवरण दिया गया है जो दत्तक ग्रहण के पात्र बनाये जा सकते हैं । धारा 10 इस प्रकार है-- कोई भी व्यक्ति जो कि दत्तक के योग्य वही होगा जो कि हिन्दू हो, वह पहले से दत्तक नहीं लिया जा चुका हो या ली चा चुकी है, उसका विवाह नहीं हुआ हो तथा उसने 15 वर्ष की आयु पूरी नहीं की हो ।

दत्तक के लिए कर्मकाण्ड
(Ceremonies for adoption)

दत्तक के सम्बन्ध में नियम देने वाले शास्त्रकारों ने बालक का देना और लेना आवश्यक कर्मकाण्ड माना है । इसके बिना कोई दत्तक विधिमान्य नहीं हो सकता है । इसी कृत्य केद्वारा बालक एक परिवार से दूसरे परिवार में अन्तरित होता है । प्रिवी कौंसिल ने बाल गंगा तिलक बनाम श्रीनिवास के वाद में यह अभिनिर्धारित किया कि दोनों पक्षकारों के समान गोत्र होने पर दत्तहोम अनिवार्य नहीं है । सामीनाथ बनाम वागीसन के वाद में भी यह कहा गया है कि द्विजों में अपनी कन्या के पुत्र के दत्तक लेने में दत्तहोम आवश्यक नहीं है ।

दत्तक के कानूनी परिणाम (Legal consequences of adoption)

प्रिवी कौंसिल ने प्रताप सिंह बनाम अमर सिंह[1] में कहा है कि दत्तक पुत्र की स्थिति

1. (1919) 46 I. A. 97

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

दत्तकग्रहीता के औरस पुत्र की होती है । यदि दत्तकग्रहीता पिता की वंश परम्परा को औरस पुत्र की भाँति ही चलाता है और दत्तक लेना जहाँ तक वंश-परम्परा के चलाने का सम्बन्ध है, भूतलक्षी रूप से लागू होता है, विधि कल्पना के अनुसार, जो निर्णीत मामलों के आधार पर पक्की हो चुकी है, दत्तक लिए गए पुत्र के बारे में यह समझा जाता है कि वह अपने दत्तक पिता की मृत्यु की तारीख को दत्तक लिया गया था । वह अपने दत्तक पिता की वंशावली का चलाने वाला ठीक वैसे ही है जैसे औरस पुत्र होता है और जहाँ तक वंशावली चलाने के सम्बन्ध है, दत्तक ग्रहण का भूतलक्षी प्रभाव होता है । दत्तक-ग्रहण चाहे जब किया जाये, वंशावली में कोई क्रम भंग नहीं होता ।[1]

प्रश्न 8. हिन्दू विधि में संरक्षकों के विभिन्न प्रकार क्या है ? प्राकृतिक संरक्षक के अधिकार एवं कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए ।

उत्तर- हिन्दू अवयस्कता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4 के अन्तर्गत संरक्षक की परिभाषा इस प्रकार की गई है–

संरक्षक से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो अवयस्क के शरीर की या उसकी सम्पत्ति की या उसके शरीर एवं सम्पत्ति दोनों की देखभाल करता है ।

हिन्दू विधि के अनुसार 16 वर्ष तक की आयु तक का कोई भी व्यक्ति अप्राप्तवय रहता है । किन्तु इस पर मतभेद रहा है कि अप्राप्तवयता सोलहवें वर्ष का प्रारम्भ होते, अर्थात् पन्द्रहवें वर्ष की समाप्ति पर, समाप्त होती है अथवा सोलह वर्ष पूर्ण हो जाने पर समाप्त होती है । दायभाग शाखा में प्रथम मत को माना गया था जिसके अनुसार सोलहवें वर्ष का प्रारम्भ होते ही अप्राप्तवयता समाप्त हो जाती है । इण्डियन मेजोरिटी ऐक्ट, 1875 के पारित हो जाने के पश्चात् उपर्युक्त मतभेद अप्रासंगिक हो गया है । इस अधिनियम ने अप्राप्तवयता के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्था दी है–

1. प्रत्येक अप्राप्तवय जिसके शरीर और सम्पत्ति के लिए उसके 18 वर्ष पूरा करने के पूर्व किसी न्यायालय द्वारा संरक्षक नियुक्त किया गया है और प्रत्येक प्राप्तवय जिसकी सम्पत्ति का अधीक्षण उसके 18 वर्ष पूरा करने के पूर्व प्रतिपाल्य अधिकरण द्वारा ग्रहण कर लिया गया है उसे 21 वर्ष पूरा होने पर प्राप्तवय समझा जायेगी ।

2. अन्य मामलों में 18 वर्ष पूरा होने पर कोई व्यक्ति प्राप्तवय माना जायेगा ।

किन्तु यह उपबन्ध विवाह, दहेज, तलाक और दत्तक लेने तथा धर्म एवं धार्मिक कृत्यों के सम्बन्ध में नहीं लागू होता था । इस अधिनियम ने भारत के समस्त व्यक्तियों के लिए प्राप्तवयता की एक आयु निश्चित करके इस सम्बन्ध में एकरूपता दी ।

किसी अप्राप्तवय के संरक्षक चार प्रकार के होते हैं–

1. नैसर्गिक संरक्षक,

---

1. गोविन्द हनुमन्त राव देसाई बनाम नागप्पा, (1972) 2 उ०नि०प० 391 (396)

LB LAW College

Scanned with CamScanner

2. वसीयती संरक्षक,

3. प्रमाणित संरक्षक

4. वस्तुतः संरक्षक ।

1. नैसर्गिक संरक्षक (Natural Guardian)

अप्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो अप्राप्तवय के साथ अपने सम्बन्ध के कारण उसके हितों के संरक्षण में स्वभावतः दत्तचित्त होते हैं । किसी प्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक उनके 3 सम्बन्धी होते हैं-

(क) पिता- पिता को अपने अप्राप्तवय पुत्र के संरक्षक होने का सर्वप्रथम अधिकार प्राप्त है । पिता से तात्पर्य नैसर्गिक और दत्तकग्रहीता पिता दोनों से है । पिता शब्द से ख्यात पिता का तात्पर्य नहीं होता है । पिता के संरक्षक का कार्य करने में सक्षम और समर्थ रहने पर कोई न्यायालय किसी अन्य व्यक्ति का अप्राप्तवय का संरक्षक नहीं नियुक्त कर सकता है ।

(ख) माता-- अप्राप्तवय की संरक्षकता के लिए पिता के पश्चात् माता का स्थान आता है, किन्तु पिता वसीयती संरक्षक नियुक्त कर माता को इस अधिकार से वंचित कर सकता था। माता अपने अप्राप्तवय सन्तान की संरक्षक पिता के न रहने अथवा उसके अक्षम या असमर्थ रहने पर ही हो सकती थी । जारज सन्तान की माता ही सर्वप्रथम संरक्षक होती है । ख्यात पिता का स्थान उसके पश्चात् आता है । माता का अप्राप्तवय सन्तान का संरक्षक होने का अधिकार पिता की ही भाँति है ।

(ग) पति-- पति अपनी अप्राप्तवय पत्नी के शरीर तथा सम्पत्ति का संरक्षक होता है । विवाह हो जाने के पश्चात् पत्नी की संरक्षकता चाहे वह कितनी भी कम आयु की हो, माता-पिता के हाथ से हटाकर पति के हाथ में चली जाती है । पिता की अप्राप्तवयता उसे अप्राप्तवय पत्नी की संरक्षकता से वंचित नहीं कर सकती है ।

2. वसीयती संरक्षक (Testamentary Guardian)

अप्राप्तवय और संरक्षकता की प्राचीन विधि के अनुसार पिता को अपनी अप्राप्तवय सन्तान के लिए बिल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने का अधिकार था । संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम के अनुसार ऐसा संरक्षक बिल अथवा अन्य लिखित द्वारा नियुक्त किया जा सकता था। ऐसा संरक्षक अप्राप्तवय के शरीर अथवा सम्पत्ति, अथवा दोनों के लिये हो सकता था । इस प्रकार नियुक्त किया गया संरक्षक वसीयती संरक्षक कहलाता है । पिता अपने इस अधिकार के प्रयोग से माता को सन्तान का संरक्षक होने से वंचित कर सकता था । इसका तात्पर्य यह है कि यदि पिता अपनी बिल में अपनी अप्राप्तवय सन्तान के लिए कोई संरक्षक नियुक्त कर देता था तो पिता के देहावसान के पश्चात् वह व्यक्ति उस अप्राप्तवय सन्तान का संरक्षक होता था जिसके लिये वह पिता द्वारा नियुक्त किया गया रहता था, न कि माता । बिल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने का अधिकार केवल पिता को था, माता को नहीं । पिता के वसीयती संरक्षक नियुक्त करने के अधिकार की सीमाएं भी थीं, वह अप्राप्तवय पुत्र के अविभक्त परिवार की सम्पत्ति के हित के

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

लिए संरक्षक नहीं नियुक्त कर सकता था । किन्तु पैत्रिक सम्पत्ति का एकमात्र स्वामी अपनी मृत्यु के पश्चात् दत्तक लिये जाने वाले पुत्र का वसीयती संरक्षक नियुक्त कर सकता था ।

3. प्रमाणित संरक्षक (certified Guardian)

किसी अप्राप्तवय की सम्पत्ति और शरीर के लिए न्यायालय द्वारा नियुक्त किया हुआ अथवा घोषित किया हुआ संरक्षक प्रमाणित संरक्षक कहलाता है । जब न्यायालय किसी व्यक्ति को किसी अप्राप्तवय का संरक्षक प्रथम बार नियुक्त करता है तो वह व्यक्ति नियुक्त किया गया संरक्षक होता है और जब न्यायालय किसी अप्राप्तवय के संरक्षक के रूप में पहले से ही कार्य करते हुए किसी व्यक्ति को अपनी मान्यता देकर संरक्षक के रूप में उसकी पुष्टि करता है तो वह घोषित किया हुआ संरक्षक माना जाता है ।

4. वस्तुतः संरक्षक (Defacto Guardian)

वस्तुतः संरक्षक, नैसर्गिक, बिल में नियुक्त अथवा प्रामाणिक संरक्षक न होने से कानूनी संरक्षक नहीं होता है । वह ऐसा कोई व्यक्ति होता है जो अप्राप्तवय का शुभचिन्तक होता है और अप्राप्तवय की सम्पत्ति की व्यवस्था अपने हाथ में लेता है । किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अप्राप्तवय की सम्पि के सम्बन्ध में एक-दो कोई काम करने वाला अथवा कभी-कभी उसकी व्यवस्था में दखल देने वाला व्यक्ति वस्तुतः संरक्षक हो जाता है । उसका अप्राप्तवय के साथ कुछ काल तक निवास करना भी उसे वस्तुतः संरक्षक नहीं बना सकता था । वस्तुतः संरक्षक बनाने के लिए अप्राप्तवय की सम्पत्ति के सम्बन्ध के रूप में उसके कार्य करने का एक अटूट क्रम होना चाहिये था । इस क्रम की क्या अवधि हो यह प्रत्येक मामले की अपनी परिस्थितियों के आधार पर निर्धारित होता था । वस्तुतः संरक्षक की स्थिति में पहुँच जाने के बाद ही उसे संरक्षक के अधिकार मिलते थे । वस्तुतः संरक्षक सामान्यतया अप्राप्तवय के निकट सम्बन्धी होते थे जो न तो नैसर्गक संरक्षक होते थे, न पिता द्वारा नियुक्त संरक्षक, और न न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक होते थे ।

ISB LAW College

प्राकृतिक संरक्षक के अधिकार एवं कर्त्तव्य–

अधिनियम की धारा 8 में अवयस्क के शरीर तथा सम्पत्ति के सम्बन्ध में प्राकृतिक संरक्षक की शक्तियों की विवेचना की गई है –

अवयस्क के शरीर के सम्बन्ध में अधिकार– अवयस्क के प्रति संरक्षक के दायित्वों को दृष्टिगत रखते हुए यह परम आवश्यक है कि अवयस्क संरक्षक की अभिरक्षा में रहे । इसलिए नैसर्गिक संरक्षक को अवयस्क की अभिरक्षा का अधिकार है । पिता अपने जीवनकाल में इस अधिकार को किसी को भी नहीं सौंप सकता । स्वयं अवयस्क के चाहते हुए भी पिता ऐसा नहीं कर सकता है । पिता केवल निरर्हित होने की अवस्था में अप्राप्तवय सन्तान के शरीर की संरक्षकता से वंचित किया जा सकता है । यद्यपि अवयस्क की शिक्षा या चिकित्सा आदि के

Scanned with CamScanner

प्रयोजनों के लिये पिता उसे अस्थायी रूप से किसी अन्य को अभिरक्षा में ले सकता है, किन्तु वह जब चाहे इसे समाप्त कर अवयस्क को अपनी अभिरक्षा में ले सकता है । यद्यपि अवयस्क की अभिरक्षा में रहना उसके हित में होने पर वह माता की अभिरक्षा में रखा जा सकता है । पिता सन्तान की अभिरक्षा के अधिकार से वंचित तभी हो सकता है जब उसकी अभिरक्षा में रहना सन्तान के लिए अहितकर हो सकता हो । पिता के पश्चात् अवयस्क सन्तान की अभिरक्षा का अधिकार माता को होता है ।

उपर्युक्त अधिकारों के साथ ही अवयस्क के शरीर के संरक्षक के अवयस्क के प्रति कर्त्तव्य भी होते हैं । उसका कर्त्तव्य अवयस्क के भरण-पोषण, उसके स्वास्थ्य शिक्षा और अन्य बातों की जो हिन्दू विधि के अधीन के लिये आवश्यक हों, व्यवस्था अथवा देखभाल करना है ।[1]

अवयस्क की सम्पत्ति के सम्बन्ध में अधिकार-- प्राचीन हिन्दु विधि में नैसर्गिक संरक्षक अवयस्क की सम्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तृत अधिकार रखता था । संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम 1890 ने उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया । नैसर्गिक संरक्षक अवयस्क की स्थावर सम्पत्ति को बन्धक रख सकता था, उस पर प्रभार निर्मित कर सकता था अथवा वेच सकता था, उसका व्ययन कर सकता था । इसके लिए उसे न्यायालय से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी । संरक्षक द्वारा अवयस्क की सम्पत्ति के व्ययन की विधिमान्यता की एकमात्र कसौटी थी कि वह अवयस्क के हित में होने चाहिये । इस सम्बन्ध में हनुमान प्रसाद पाण्डे बनाम बबुई मुनराज कुंवर के वाद में दिया गया शिशु-उत्तराधिकारी के सम्बन्धक के शिशु की सम्पत्ति के व्ययन सम्बन्धी अधिकार संरक्षक के सम्बन्ध में भी लागू होते हैं ।

संरक्षक अपनी अधिकार सीमा के भीतर अवयस्क की ओर से संविदा कर सकता है और ऐसी संविदा में अवयस्क के नाम का उल्लेख न होने पर भी वह उससे बाध्य होगा । किन्तु इन स्थितियों से संरक्षक का अधिकार उसके संरक्षण में अवयस्क की सम्पत्ति तक ही सीमित है । वह किसी विशुद्धतः वंयक्तिगत संविदा से अप्राप्तवय को आबद्ध नहीं कर सकता और उसके द्वारा की गई संविदाओं के लिए अवयस्क व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं हो सकता ।

प्रश्न 9. हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 द्वारा उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों में किये गये मुख्य परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए ।

अथवा

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।

उत्तर- हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 में उत्तराधिकार सम्बन्धी विधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाये गये । ये महत्वपूर्ण परिवर्तन निम्नलिखित हैं--

1. मिताक्षरा और दायभाग शाखायें दाय सम्बन्धी नियमों की दृष्टि से समाप्त हो गई हैं। अब समस्त देश के हिन्दुओं के लिये दाय की एकरुप विधि है ।

1. संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890, धारा 24

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

2. वर्ण के आधार पर, अर्थात् द्विज और शूद्र के आधार पर, विधि के कतिपय उपवन्धों में जो विविधिता थी, वह समाप्त हो गई है ।

3. दक्षिण भारत में प्रचलित मातृ-प्रधान प्रणाली में दाय के नियमों के वारे में विभिन्न अधिनियमों के उपलब्ध समाप्त हो गये हैं ।

4. हिन्दू-नारी की सीमित सम्पदा अव समाप्त हो गई है । हिन्दू नारी अव जो सम्पत्ति दाय या अन्य रूप में प्राप्त करती है उसकी पूर्ण स्वामिनी होती है ।

5. विभिन्न प्रकार के स्त्रीधन और परिणामस्वरुप उनके सम्वन्ध में उत्तराधिकार के नियम समाप्त हो गये हैं ।

6. किसी प्रसंविदा अथवा करार के आधार पर अथवा किसी अधिनियम के अनुसार अकेले एक दायाद को प्राप्त होने वाली सम्पदा को छोड़कर अन्य प्रकार की अविभाज्य सम्पदा समाप्त हो गई है । दूसरे शब्दों में रुढ़िगत अविभाज्य सम्पदा समाप्त हो गई है ।

7. दाय की मरुमक्कत्तायम, नम्बूदरी और अलियसन्तान विधि को समाप्त कर दिया गया है ।

8. हिन्दू-पुरुष की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए एकरुप क्रम का उपंवन्ध किया गया है । केवल इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व मरुमक्कत्तायम तथा अलियसन्तान विधि से शासित होने वाले हिन्दुओं के सम्वन्ध में थोड़ी-सी विभिन्नता है ।

9. हिन्दू-नारी की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए एकरुप क्रम का उपवन्ध किया गया है । केवल इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व मरुमक्कत्तायम तथा अलियसन्तान विधि से शासित होने वाले हिन्दुओं के सम्वन्ध में थोड़ी-सी विभिन्नता है ।

10. अधिनियम द्वारा दिया गया उत्तराधिकार का क्रम पिण्डदान सिद्धान्त अथवा रक्त सम्वन्ध-सिद्धान्त पर आधृत न होकर स्नेह और सहानुभूति पर आधृत है । दूसरे शब्दों में, सम्पत्ति उन सम्वन्धियों को प्राप्त होती है जिनके प्रति सामान्यता मृतक का स्नेह और सहानुभूति रही है, और वह जीवनकाल में स्वयं भी उनको अपने सम्पत्ति के प्राप्त होने की कामना रखे होगा ।

11. दायादों के वीच अग्रता करने के लिए सरल नियमों का विधान किया गया है ।

12. पुरुष और नारी दायादों के वीच कोई भेद नहीं रखा गया है ।

13. कतिपय नारी सम्वन्धियों को सहदायिकी सम्पत्ति में भी मृतक के हित को दायरुप में ग्रहण करने का अधिकार दिया गया है ।

14. गोत्रज और वन्धु की परिभाषा में नारियों को भी सम्मिलित किया गया है, और अतिशय दूर के गोत्रजों एवं वन्धुओं को दायाद वनाया गया है ।

15. एकोदर सम्वन्ध को भी मान्यता दी गई है ।

16. कतिपय सम्वन्धियों के साथ जारज के सम्वन्ध को औरस के समान माना गया है

JSB LAW College

Scanned with CamScanner

और सम्बन्धित शब्द के भीतर वह भी आता है ।

17. व्याधि और शारीरिक विकलांगता इत्यादि दाय प्राप्त करने के लिये अनर्हतायें नहीं हैं ।

18. मिताक्षरा शाखा में के सहदायिक को सहदायिकी सम्पत्ति में अपने हित को विल द्वारा व्यक्त करने का अधिकार दिया गया है ।

प्रश्न 10. उत्तराधिकार के सम्बन्ध में सामान्य नियमों की विस्तृत रूप से व्याख्या कीजिए ।

उत्तर-- अधिनियम की धारा 18 से 23 (अब हिन्दू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम द्वारा धारा 23 का लोप कर दिया गया है।) तक की धाराओं में कतिपय नियम दिये गये हैं, जो अधिनियम में दिये गये उपबन्धों पर सामान्य रूप से लागू होते हैं जो इस प्रकार हैं--

सगे को सौतेले के समक्ष अग्रता-- धारा 18 के अनुसार यदि किसी निर्वसीयत के दायादों का उसके सम्बन्ध का स्वरुप अन्य प्रत्येक बात में समान हों तो निर्वसीयत के सगे सम्बन्ध में आने वाले दायाद को सौतेले सम्बन्ध में आने वाले दायाद के समक्ष अग्रता प्राप्त होगी, अर्थात् सम्पत्ति पहले सगे सम्बन्ध के दायाद को प्राप्त होगी, तत्पश्चात् सौतेले सम्बन्ध के दायाद को। जहाँ उत्तराधिकार सगी बहिन और चचेरे भाई में तय किया जाना है वहाँ सगी बहिन चेचेरे भाई को अपवर्जित कर देगी और सम्पत्ति उसे दाय में मिलेगी । उत्तराधिकार की प्राचीन विधि में भी दायादों के एक ही श्रेणी में होने की स्थिति में सगे सम्बन्ध में आने वाले दायादों को प्राथमिकता मिलती थी । यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यह उपबन्ध तभी लागू होता है जब कि सगे तथा सौतेले सम्बन्ध में आने वाले दायादों के सम्बन्ध का स्वरुप सगे और सौतेले होने के अतिरिक्त अन्य सभी बातों में एक समान हो । उदाहरण के लिए, निर्वसीयत के सगे और सौतेले भाइयों के होने की स्थिति में सगे भाई को दाय प्राप्त करने में अग्रता प्राप्त होगी, किन्तु सौतेले भाई तथा सगे भाईके पुत्र के बीच सौतेले भाई को अग्रता मिलेगी । यदि पुरुष तथा नारी दायाद एक डिग्री के हैं तो उनमें कोई भेद नहीं किया जायेगा और वे समान रूप से सम्पत्ति को उत्तराधिकार में ग्रहण करेंगे ।[1]

दो या दो से अधिक दायादों के उत्तराधिकार का ढंग-- जब किसी निर्वसीयत की सम्पत्ति के दो या दो से अधिक दायाद एक साथ उत्तराधिकारी होते हैं तो वे सम्पत्ति को किस प्रकार से पायेंगे इस सम्बन्ध में धारा 19 में दो नियमों को दिया गया है वे नियम ये हैं कि यदि अधिनियम में अभिव्यक्त तौर पर अन्यथा उपबन्धित नहीं किया गया है तो वे दाय व्यक्तिवार तौर पर लेंगे कि शाखावार तौर पर और दाय को सह-आभोगियों के रूप में लेंगे न कि संयुक्त उपभोगियों के रूप में जहाँ तक व्यक्तिवार अथवा शाखावार तौर पर दाय पाने का प्रश्न है, अधिनियम में केवल दो स्थलों पर यह अभिव्यक्त तौर पर कहा गया है कि दायाद शाखावार

1. ए०आई०आर०1984 बम्बई 208

ISBL Law College

Scanned with CamScanner

तौर पर लेंगे । वे दो स्थल हैं-- प्रथम, धारा 10 का नियम 4, जिसके अनुसार किसी पूर्वमृत पुत्र की शाखा में आने वाले सभी दायाद मिलकर वही अंश प्राप्त करते हैं जो कि यदि पूर्वमृत पुत्र जीवित होता तो प्राप्त करता ।

गर्भस्थ बालक का अधिकार (Right or the child in work)-- अधिनियम की धारा 20 में यह नियम दिया गया है कि यदि कोई संतति निर्वसीयत की मृत्यु के समय गर्भ में स्थित थी और उसकी मृत्यु के पश्चात् जीवित पैदा होती है तो निर्वसीयत से दाय प्राप्त करने के विषय में उसके वही अधिकार होंगे जो कि यदि निर्वसीयत की मृत्यु के पूर्व पैदा हुई होती तो उसके होते, और ऐसी अवस्था में दाय निर्वसीयत की मृत्यु की तिथि से यह सन्तति में निहित समझी जायेगी ।

समकालिक मृत्युओं के विषय में उपधारणा (Presumption with regard to contemporaneous deaths)-- धारा 21 में यह नियम दिया गया है कि जब दो व्यक्ति किसी ऐसी परिस्थितियों में मरे हों जिनमें यह अनिश्चित हो कि क्या उनमें से कोई, और यदि ऐसा हो तो कौन आगे मरा और कौन पीछे तो जब तक कि उसके प्रतिकूल साबित न कर दिया जाये सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी समस्त प्रयोजनों के लिये यह उपधारणा की जायेगी कि ज्येष्ठ पहले मरा और कनिष्ठ उसके पश्चात् । इस नियम की सृष्टि उन स्थितियों के लिये की गई है जहाँ दो सम्बन्धी जिनमें एक-दूसरे का दायाद है किसी दुर्घटना में साथ ही मर जाते हैं ।

सम्पत्ति अर्जन में प्राथमिकता का अधिकार (Preferential right to acquire property)-- धारा 22 यह नियम प्रस्तुत करती है कि जब उत्तराधिकार अधिनियम के पारित होने केपश्चात् निर्वसीयती किसी स्थावर सम्पत्ति अथवा उसके द्वारा अकेले या दूसरे के साथ किये जाने वाले किसी कारोबार में अपना हित छोड़कर मरता है, और वह अधिनियम की अनुसूची के प्रथम वर्ग में विनिर्दिष्ट दो या दो से अधिक दायादों पर न्यागत होता है तो यदि ऐसे दायादों में से कोई उस सम्पत्ति अथवा कारोबार में अपने हित को अन्तरित करना चाहता है तब अन्य दायादों को उस अन्तरित किये जाने वाले हित को अर्जित करने में प्राथमिकता पाने का अधिकार होगा । यह नियम इसलिये रखा गया है कि सह-दायादों के बीच कोई अपरिचित प्रवेश कर उन्हें असुविधा न उत्पन्न करे ।

JSB LAW College

Scanned with CamScanner